22 दिसंबर 2005

सत्र 5

अध्यक्षः एन. पंचापकेसन

एन. पंचापकेसनः इस सत्र की शुरुआत हम मुख्य वक्ता डॉ. रवि सिन्हा के साथ करेंगे। डॉ सिन्हा लखनऊ से हैं। वे एक भौतिक शास्त्री और एक सामाजिक कार्यकर्ता हैं। उनके वक्तव्य की टीकाकार प्रेरणा राणे और डॉ. स्वाति होंगी। प्रेरणा राणे एक समाजकर्मी समूह से जुड़ी हैं जबकि डॉ. स्वाति बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के भौतिक शास्त्र विभाग से हैं। तो डॉ. रवि सिन्हा से शुरु करते हैं।

रवि सिन्हा

विज्ञान के ज़रिए विचारधारा से छुटकारा

(Overcoming Ideology Through Science)

यह मेरे लिए थोड़ा नया अनुभव होगा। मैं या तो भौतिकी सम्मेलनों का आदी हूं जहां समीकरणें और स्लाइड्स आपकी नैया पार लगा देती हैं, या मैं राजनैतिक विमर्श का आदी हूं जहां आपको नैया को पार नहीं लगाना होता, बल्कि कभी-कभार आपको माइक से परे हटाने की ज़रूरत पड़ जाती है। तो प्रोफेसर पंचापकेसन को सुरक्षाकर्मियों को बुलाकर मुझे माइक से परे हटाने का आदेश देने की नौबत न आए, इसके लिए मैं एक आधे-अधूरे पर्चे से चिपककर आगे बढ़ूंगा। यह पर्चा अभी नहीं लिखा गया है - इसका अधिकांश भाग मेरे अपने नोट्स के रूप में है। बीच-बीच में मैं कुछ टिप्पणियां करता चलूंगा, मगर बेहतर यह होगा कि मैं अपने लिखे हुए पर ही टिका रहूं।

जैसा कि आप देख सकते हैं विज्ञान के ज़रिए विचारधारा से छुटकारा शीर्षक में कई पूर्व-मान्यताएं हैं। इसमें विचारधारा को लेकर, विज्ञान को लेकर और छुटकारा पाने से हम क्या समझते हैं, इसे लेकर पूर्व मान्यताएं हैं। मैंने इन तीनों के अर्थ अपने वक्तव्य में सहूलियत के हिसाब से निकाले हैं।

विचारधारा सदैव ही विवाद का विषय रहा है। इस शब्द का अर्थ इतिहास के क्रम में बदलता रहा है और इसका उपयोग जिन अलग-अलग अर्थों में किया जाता है उनमें सकारात्मक से लेकर खुली निंदा और खंडन तक होते हैं। दरअसल, इस अवधारणा का कोई एक अर्थ नहीं है। यह एकांगी नहीं है। इसके कई पहलू हैं और इसके अर्थ को कई घटकों में बांटा जा सकता है। और इसका व्यवहार कई धुरियों पर किया जा सकता है - निजी-मनोवैज्ञानिक, सामाजिक-सांस्कृतिक, तंत्रगत-राजनैतिक। विचारधारा के कई ऐसे रूप हैं, जैसे धर्म, जो इन तीनों धुरियों पर फैले होते हैं। दूसरी ओर, ऐसे अन्य रूप हैं जो मुख्य रूप से किसी एक धुरी के इर्द-गिर्द संचालित होते हैं, जैसे आजकल अत्यंत प्रचलित प्रतिस्पर्धा, प्रजातंत्र, स्वतंत्रता वगैरह की विचारधाराएं हैं, जो मुख्यतः तंत्रगत-राजनैतिक पक्ष से सम्बंधित हैं।

यहां तक कि विचारधारा यह चुनाव करने में भी शामिल हो सकती है कि विचारधारा की बात करते हुए हम कौन-से पहलू को महत्व देना चाहते हैं या कौन-से अर्थ को रेखांकित करना चाहते हैं। विचारधारा का सम्बंध

तो इस बात से भी होता है कि आप स्वयं विचारधारा के बारे में किस तरह बात करना चाहते हैं। विचारधारा को मूलतः एक विकृतिकारी माध्यम के रूप में देखा जा सकता है जो संज्ञान कर्ता यानी जानने वाले और स्वतंत्र यथार्थ के बीच आता है, जो व्यक्ति को दुनिया को उस रूप में देखने से रोकता है जैसी कि वह वास्तव में है। तो यह हमारे संज्ञान का आयाम है। हो सकता है कि हमारे पास एक तरह के विचाराधारात्मक मत तथा विश्वास को किसी अन्य की अपेक्षा अधिक तरजीह देने की कसौटियां हों। जैसे मानव इतिहास के क्रम में किसी समूह की स्थिति या किसी राजनैतिक अथवा आर्थिक व्यवस्था को बनाए रखने या उखाड़ फेंकने में उस समूह की भूमिका। यह तंत्रगत-राजनैतिक किस्म की चीज़ है। दूसरी ओर, हम यह भी मान सकते हैं कि मानव कर्ता स्वयं ही विचारधारा से बना है जिसके चलते कर्ता की अपनी स्वायत्तता के लिए कोई खास गुंजाइश नहीं रहती, खास तौर से जब विचारधारा के ऐसे हिस्सों को बदलने की बात आती है, जो स्वयं कर्ता के घटक हैं। एक मत यह भी हो सकता है कि किसी माध्यम के बाशिंदों के गठन में वह माध्यम इस कदर घुला-मिला होता है कि इसे उनके लिए पारदर्शी बनाना बहुत मुश्किल होता है। यदि विचारधारा व्यक्ति (कर्ता) के निर्माण में भी शामिल है, यदि व्यक्ति उसी विचारधारा से बना है, तो व्यक्ति को उस माध्यम के दर्शन कराना एक मुश्किल काम हो सकता है।

विज्ञान भी विवाद का विषय रहा है, हालांकि उसी रूप में नहीं और उसी हद तक नहीं जैसे विचारधारा रही है। आधुनिक युग में विज्ञान संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में एक ऐसे मुकाम तक पहुंचा है जहां उसके वर्चस्व को लगभग कोई चुनौती नहीं है। दरअसल इस युग को काफी हद तक विज्ञान के इसी उभार ने परिभाषित भी किया है। इस शब्द को विचारधारा की अपेक्षा ज़्यादा स्पष्टता से परिभाषित किया गया है। विज्ञान के प्रथम उदाहरण के रूप में प्राकृतिक विज्ञान सामने आते हैं और इन्होंने विज्ञान के मूल निर्धारित (canonical) मॉडल को संरक्षित रखा है। सामाजिक विज्ञान के शुरुआती दौर में प्राकृतिक विज्ञान की विधियों को मशीनी ढंग से प्रमाणवादी रीति से सामाजिक क्षेत्र में लागू किया गया था। मगर परिपक्व होने की प्रक्रिया शुरू होते देर न लगी और सामाजिक विज्ञान अपनी विधियां विकसित करने लगे, जो सामाजिक क्षेत्र में अन्वेषण के लिए अधिक उपयुक्त थीं।

विज्ञान का दावा है कि यथार्थ के अन्वेषण में वह निर्वैयक्तिक तरीकों का उपयोग करता है, जो सर्वोच्च तटस्थता और वस्तुनिष्ठता पर आधारित होते हैं। इन दावों के मुताबिक विज्ञान अपनी सख्त विधियों के साथ कोई समझौता नहीं करता; इन विधियों का तकाज़ा होता है कि उसके परिणामों की जांच और सतत परीक्षा स्वयं यथार्थ की अदालत में की जाए। यह बहुत सतर्कता से आत्म मंथन करता है और सदैव स्वयं को गलत साबित करने का प्रयास करता रहता है, और इस प्रक्रिया में वह यथार्थ की प्रकृति के अपने निष्कर्षों को बेहतर बनाता चलता है। जहां विचारधारा स्वयं के पुनरुत्पादन के प्रति चिंचित रहती है, वहीं विज्ञान में खुलापन है, खुले जवाब हैं और वह सदा नए ज्ञान के निर्माण में व्यस्त रहता है।

ये दावे चुनौतियों से मुक्त नहीं रहे हैं। विज्ञान का जन्म ही विवादों से घिरा रहा था। आधुनिक-पूर्व युग में सामाजिक, सांस्कृतिक व बौद्धिक जीवन पर धर्म का वर्चस्व था। राजनैतिक, सामाजिक व नैतिक सरोकारों के अलावा इसके ब्रह्मांडीय व दार्शनिक सरोकार भी थे। अपने रूढ़िवादी चरित्र के बावजूद धर्म कभी-कभार अपने एकछत्र वर्चस्व की रक्षा व उसे आगे बढ़ाने के लिए अवलोकनों, तर्क और दार्शनिक शास्त्रार्थ का सहारा लेता था, चाहे वह कितना ही आधा-अधूरा हो और अपने ही हितों से प्रेरित होकर किया जाए। विज्ञान का जन्म धर्म के इस विरोधाभासी चरित्र से असम्बंधित नहीं था। विज्ञान को लेकर विवादों का पहला चक्र आधुनिकता की ओर संक्रमण के दौर में हुआ था, जब धर्म और नवजात विज्ञान के बीच एक उग्र, तथा यदा-

कदा खूनी वैचारिक संघर्ष हुआ था। इसमें हिंसा का पुट प्रायः धर्म की ओर से था। विज्ञान को हिंसा का कोई मौका ही नहीं था - सारा खूनखराबा धर्म की ओर से ही हुआ था। प्रत्येक पक्ष सत्य और प्रामाणिक, वस्तुनिष्ठ व भरोसेमंद ज्ञान का दावा कर रहा था और दूसरा पक्ष उसे चुनौती दे रहा था।

विज्ञान के दावों को लेकर विवादों का ताज़ा चक्र अपेक्षाकृत हाल के समय में चला है। तीन सदियों से भी लंबे समय से आधुनिकता सभ्यता का प्रमुख पैराडाइम रही है और बौद्धिक व वैचारिक क्षेत्र में विज्ञान इसका मुख्य स्तंभ रहा है।

यह कोई अचरज की बात नहीं है कि इतने लंबे आधिपत्य के दौरान असंतोष जमा होता जाएगा और समय-समय पर उभरकर आएगा। हाल का समय, जिसे कुछ लोग उत्तर-आधुनिकता का आगाज़ मानते हैं, ऐसी बौद्धिक धाराओं के उभार का गवाह रहा है जो आधुनिकता के असंतोष को नए सिरे से कुरेदती हैं। उत्तर-आधुनिक रुझान विज्ञान के इस दावे को चुनौती देते हैं कि उसकी विशेष पहुंच वस्तुनिष्ठ ज्ञान तक है और वैज्ञानिक ज्ञान को ज्ञान के कई अन्य बराबर वैध स्वरूपों के सापेक्ष रखते हैं। वे सत्य, वस्तुनिष्ठता और यहां तक कि यथार्थ की धारणा को भी मात्र किस्से-कहानियां अथवा महा-विवरण (grand narrative) मानते हैं जिसके प्रति हमें शंकालु होना चाहिए। मोटे तौर पर वे तर्क (reason) से दूर हटने की वकालत इस आरोप के आधार पर करते हैं कि इसके दावे निराधार हैं और यह स्वार्थों व सत्ता की छलयोजना में लिप्त पाया गया है। वैज्ञानिक ज्ञान की वस्तुनिष्ठता व विशिष्टता को इस आधार पर भी चुनौती दी गई है कि विज्ञान एक-से तथ्यों की व्याख्या परस्पर बेमेल पैराडाइम के अंतर्गत कर सकता है (ये सारे दावे हैं, मैं पूरी तरह इनसे सहमत नहीं हूं, मगर यह एक आलोचना है जो, मसलन, थॉमस कुन-नुमा दर्शन द्वारा की गई है) क्योंकि तथ्यों का अर्थ उस सैद्धांतिक ढांचे पर निर्भर करता है जो इन तथ्यों का उपयोग करता है (इस अवधारणा को 'अर्थांतर' कहते हैं जहां सारे अवलोकन सिद्धांत-प्रेरित होते हैं) और क्योंकि कई सैद्धांतिक विश्व, जो एक ही आंकड़ों की शर्तों को पूरा कर सकते हैं, की संभावना में ओन्टोलॉजिकल सापेक्षता निहित है। यह क्वाइन की बात है। इसमें सिद्धांत बुनियादी रूप से अंशतः निर्धारित रहता है। तथ्य पूरी तरह किसी एक सिद्धांत-विशेष का निर्धारण नहीं करते।

विचारधारा और विज्ञान के इतिहास में विवादों के मद्दे नज़र यह सोचना पड़ता है कि क्या एक की मदद से दूसरे से पार पाना संभव भी है। क्या विचारधारा से पार पाया जा सकता है। क्या यह ज़रूरी है कि विचारधारा के हर रूप और हर घटक से पार पाया जाए। क्या पार पाने की प्रक्रिया किसी मुकाम पर सम्पन्न होगी या इसका लक्ष्य खुला है? क्या ऐसा नहीं है कि पार पाने की प्रकृति व उसका उद्देश्य उस समाज की संरचना पर निर्भर होंगे जिसमें इस प्रक्रिया को चलाया जा रहा है? क्या पार पाने के इस काम के लिए विज्ञान एक उपयुक्त औज़ार है? विचारधारा के किन पहलुओं पर विज्ञान की मदद से पार पाया जा सकता है? इस प्रक्रिया में कौन-सी शक्तियां या आंदोलन विज्ञान की मदद करेंगे और इस तरह के कार्यक्रम की रणनीति कैसे बनाएंगे? प्रस्तुत पर्चा इन सवालों के साथ जूझने की उम्मीद करता है।

पहले खंड में मैं विचारधारा के घटकों को वर्गीकृत करने की कोशिश करूंगा ताकि उन घटकों को चुन सकूं जिनसे पार पाया जाना चाहिए और जिनके लिए विज्ञान एक सही दवाई या परिवर्तन का साधन होगा।

दूसरे खंड में मैं विज्ञान की कुछ प्रमुख आलोचनाओं की चर्चा करूंगा और यह बताने की कोशिश करूंगा कि आलोचकों की तमाम दलीलों के बावजूद विज्ञान के दावों पर कोई आंच नहीं आई है। दार्शनिक-पद्धतिगत आलोचकों द्वारा विज्ञान के कामकाज व संरचना पर जो महत्वपूर्ण रोशनी डाली गई है, उसे भलीभाति समझने

से सांस्कृतिक-सभ्यतागत संक्रमण के लक्ष्य हेतु विज्ञान को तैनात करने में मदद मिलेगी।

अंतिम खंड में मैं इन सूत्रों को साथ-साथ लाकर पार पाने की एक संभव व वांछनीय प्रकृति प्रस्तुत करने की और उसके लिए एक रणनीति की रूपरेखा प्रस्तुत करने की कोशिश करूंगा।

विचारधारा के घटकों, रूपों और भूमिकाओं की गिनती करने के कई तरीके हैं। वर्तमान उद्देश्य के लिए मैं एक स्वतःनिर्मित वर्गीकरण सुझाना चाहूंगा जिसमें लगभग पूरे दायरे को समेटने की संभावना है। पहले मैं श्रेणियां बता दूं और फिर कुछ टिप्पणी करूंगा कि इतिहास में इस विषय पर किस तरह की चर्चाएं हुई हैं।

(1) संज्ञान-ज्ञान शास्त्रीय आयाम (cognitive-epistemological dimension), जहां विचारधारा संज्ञान प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका निभाती है। जानने वाला एक व्यक्ति हो सकता है या एक समूह। विचारधारा निश्चित रूप से जानने वाले-अवलोकनकर्ता की दृष्टि को रंगत देती है। इस पहलू का सम्बंध इस तरह के अपेक्षाकृत गहरे सवालों से भी है कि व्यक्तिनिष्ठता कैसे निर्मित होती है। इसकी एक उपमा प्राकृतिक स्तर पर हमारी भौतिक दृष्टि के रूप में दी जा सकती है। इसके ज़रिए हम मात्र दृश्य प्रकाश की तरंग लंबाइयों को ही देख पाते हैं। हमारे पास एक्स-रे दृष्टि नहीं है। विचारधारा निजी व सामूहिक दोनों तरह की व्यक्तिनिष्ठता के संघटन में शामिल होती है। यह संघटन व्यक्ति की विश्व दृष्टि को विकृत अथवा सीमित करता है। फिर मामला इस बात पर भी निर्भर करता है कि आप यथार्थवादी (realist) हैं या निर्माणवादी (constuctivist)। एक यथार्थवादी मानेगा कि प्रेक्षक या कर्ता से स्वतंत्र यथार्थ का अस्तित्व है। ज़्यादा संभावना इस बात की है कि ऐसा प्रेक्षक विचारधारा को त्रुटियों या भ्रांतियों की एक प्रणाली या 'एक सशक्त अर्थ में सिलसिलेवार त्रुटियों का साकार रूप' मानेगा।

इसी प्रकार से हो सकता है कि सामाजिक यथार्थ भी विकृत हो जाए क्योंकि सामाजिक कर्ता, व्यक्ति अथवा समूह, विचारधारा से बने होते हैं। संघटनात्मक विचारधाराएं महज संयोग या मनमानी त्रुटियां नहीं हैं; वे व्यवस्थित त्रुटियां हैं जिनका एक भौतिक आधार होता है और वे एक खास समाज व्यवस्था के हित में कार्य करती हैं। निजी और सामूहिक दोनों ही किस्म की व्यक्तिनिष्ठता में यथार्थवादी के पास त्रुटियों को हटाने और तद्नुसार विचारधारा से पार पाने के संज्ञानात्मक ज्ञानशास्त्रीय तर्क होते हैं। इस तरह का पार पाना शायद कभी भी पूर्ण न हो, तथा इसमें संभवतः व्यक्ति का आंशिक अथवा निरंतर पुनर्गठन होता रहे मगर यथार्थवादी के लिए विचारधारा से मुक्तिदायक पार पाना संज्ञानात्मक ज्ञानशास्त्रीय ज़रूरत भी होती है। यही मुख्य बात है, हो सकता है कि विचारधारा से पार पाने के और भी कारण हों मगर एक यथार्थवादी के लिए यह संज्ञानात्मक ज्ञानशास्त्रीय कारण भी होता है।

निर्माणवादियों के लिए यथार्थ एक निर्मित (constructed) यथार्थ है जिसका निर्माण निजी या सामूहिक कर्ता करते हैं मगर इसमें व्यवस्थित त्रुटियों अथवा भ्रांतियों का कोई सवाल ही नहीं है। व्यक्ति को यथार्थ का विकृत दर्शन हो ही नहीं सकता क्योंकि यथार्थ के अविकृत दर्शन जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। सिद्धांततः निर्माणवादी के लिए विचारधारा से पार पाने के अन्य कारण हो सकते हैं मगर उसके लिए विचारधारा से पार पाने का कोई ज्ञान शास्त्रीय कारण नहीं है।

(2) तंत्रगत आयाम - तंत्रगत आयाम मुख्य रूप से वे विचारधाराएं हैं जो किसी राजनैतिक-आर्थिक व्यवस्था की रक्षा के लिए उभरती हैं। इनका सीधा सम्बंध भौतिक आधार से होता है। आगे हम देखेंगे कि यदि आप विचारधारा के इस आयाम को बदलना या इससे पार पाना चाहते हैं, तो आपको उसके स्रोत पर काम करना होगा बजाय लोगों को यह यकीन दिलाने में कि वे उस व्यवस्था की विचारधारा को न मानें।

यह इस तरह नहीं हो सकता; आंदोलन, क्रांतियां तथा सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन विचारधारा के इस आयाम से पार पाने के ज़्यादा कारगर तरीके हैं।

(3) सांस्कृतिक आयाम - यह ज़्यादा जाना-माना है और इससे निपटना ज़्यादा मुश्किल है। विचारधाराएं अधिकांशतः या एक बड़े अंश में सांस्कृतिक आयाम के ज़रिए काम करती हैं, चाहे वह धर्म हो या जिस ढंग से हम अपनी परंपराओं, रिवाज़ों वगैरह का पालन करते हैं, वह हो।

(4) चौथा आयाम ज़्यादा पेचीदा नहीं है मगर लोग अक्सर इस पर कम ध्यान देते हैं, खास तौर से वामपंथी लोग जिनमें मैं भी शामिल हूं। यह आयाम आदतों, परिपाटियों और रोज़मर्रा के अनुभवों का है (यह मूलतः बचा-खुचा आयाम है, ऊपर हमने जिन तीन आयामों की चर्चा की वे विचारधारा को संपूर्णता नहीं देते)। यहां विचारधारा व्यक्तियों और समूहों के दैनिक जीवन में रच-बस जाती है और ज़रूरी नहीं कि इसकी बुनियाद राजनैतिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक व्यवस्था में हो। इनका आधार इन व्यवस्थाओं में हो सकता है मगर मैं उस अतिशेष की बात कर रहा हूं जो उनमें शामिल नहीं हुआ है। मैं एक सिद्धांतकार, आल्थुसर, का ज़िक्र करूंगा जिन्होंने मार्क्सवादी नज़रिए से इस आयाम पर रोशनी डालने के लिए काफी काम किया है। वे कहते हैं कि यह मनुष्यों और उनके विश्व के बीच जीवित सम्बंध है, या वह आयाम है जिसमें हम जीते हैं, हमारे और हमारी जीवन परिस्थिति के बीच का सम्बंध है।

एक अन्य सिद्धांतकार, जो मार्क्सवादी नहीं हैं, पियरे बोर्ड्यू हैं जिन्होंने हैबिटस (habitus) की अवधारणा प्रस्तुत की है। हैबिटस शब्द काफी कुछ कह देता है। यह आदतों से काफी निकट से सम्बंधित है हालांकि यह एक तकनीकी शब्द है। फिर बोर्ड्यू समेत कई अन्य लोगों ने सांस्कृतिक अवचेतन की बात की है। जैसे फ्रायड को लें, जिन्होंने मनोविज्ञान में अवचेतन की भूमिका की बात की थी। मैं बाद में पूछूंगा कि क्या वैज्ञानिक का कोई सांस्कृतिक अवचेतन होता है। कल कई वक्ताओं ने इस प्रश्न पर विचार किया था कि क्या वैज्ञानिकों के अवैज्ञानिक विश्वास हो सकते हैं। सांस्कृतिक अवचेतन का अस्तित्व वैज्ञानिकों के लिए भी होता है।

मैंने जो कुछ कहा है, उसके मद्दे नज़र मैं ऊपर उठाए गए कुछ सावलों के जवाब देने का प्रयास कर सकता हूं। सबसे पहला सवाल कि क्या विचारधारा से पार पाया जा सकता है? जवाब है, हां और नहीं। सब कुछ इस बात पर निर्भर है कि पार पाने से आपका मतलब क्या है और किन आयामों से पार पाने की बात कर रहे हैं। यदि पार पाने से आपका मतलब है कि अंत में आप विचारधारा के खात्मे की घोषणा कर सकेंगे, तो यह उद्यम एक भूल साबित होगा। जैसा कि हमने देखा, विचारधारा के कुछ आयाम हैं जो सर्व-इतिहास-व्यापी हैं (यह आल्थुसर का शब्द है), वे कभी नहीं हटने वाले। इसका मतलब यह नहीं है कि विचारधारा के ये घटक कभी बदलेंगे ही नहीं। वे सदा टिके रहेंगे मगर बदलते भी रहेंगे, हालांकि इस तरह के परिवर्तनों के लिए 'भावना की संरचना' (यह रेमंड विलियम्स का शब्द है), या हैबिटस, या 'सांस्कृतिक अवचेतन' जैसे दायरों में परिवर्तन की ज़रूरत होगी - ये ऐसे दायरे हैं जिनमें परिवर्तन बहुत लंबे समय में होता है और जीवन की भौतिक परिस्थिति में प्रत्यक्ष परिवर्तन के परोक्ष प्रभाव के कारण होता है।

तो सुझाव यह है कि हम विचारधारा के उन आयामों को बदलने की रणनीति बनाएं जिनमें सीधे हस्तक्षेप ज़्यादा संभव है। उदाहरण के लिए, तंत्रगत आयाम में शामिल विचारधारा के घटकों पर अपेक्षाकृत आसानी से पार पाया जा सकता है क्योंकि ये ज़्यादा प्रत्यक्ष रूप से राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक व्यवस्थाओं पर निर्भर हैं - यह एक ऐसा क्षेत्र है जहां परिवर्तन लाने के बारे में हम थोड़ा ज़्यादा जानते हैं। मगर यहां भी विचारधारा के क्षेत्र में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप विचारधारा से पार पाने का सबसे कारगर तरीका नहीं होगा। क्रांतियां,

राजनैतिक संघर्ष, सामाजिक आंदोलन वगैरह विचारधारा में परिवर्तन के ज़्यादा कार्यक्षम तरीके हैं। क्रांतियों या आंदोलनों की तैयारी के लिए विचारधारा के क्षेत्र में थोड़े काम की ज़रूरत हो सकती है, मगर विचारधारा परिवर्तन का यह साधन-निर्माण पक्ष आम तौर पर परिवर्तन-कर्ताओं या वैनगार्ड में होता है और इसे विचारधारा में व्यापक परिवर्तन का लक्ष्य मानने की भूल नहीं करना चाहिए।

विचारधारा के कुछ ऐसे घटक हैं जहां विचारधारा के क्षेत्र में सीधा हस्तक्षेप उनसे पार पाने का कारगर तरीका हो सकता है। व्यवस्थित रूप से देखें, तो ऐसे घटक जीवन की भौतिक परिस्थितियों से बहुत निकटता से सम्बंधित नहीं होंगे (तंत्रगत विचारधाराओं पर विचार करें), क्योंकि यदि वैसा हुआ तो हमारे काम के लिए उन भौतिक परिस्थितियों में सीधा हस्तक्षेप ज़्यादा कारगर होगा। ऐसे घटक बहुत अमूर्त भी नहीं हो सकते (हैबिटस की तरह)। ये (अमूर्त घटक) प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के लिए ज़्यादा जगह नहीं छोड़ते। सांस्कृतिक विचारधारा के कुछ चुनिंदा पहलू सीधे हस्तक्षेप के ज़रिए परिवर्तन के सबसे योग्य होंगे। यदि आप उन हिस्सों को हटा दें जहां आप सीधे हस्तक्षेप नहीं कर सकते, तो एक बहुत छोटा-सा उपसमूह बचता है जहां आप सीधे हस्तक्षेप कर सकते हैं।

क्या हमारे लिए विचारधारा के हर आयाम और विचारधारा के हर रूप से पार पाना ज़रूरी है? हमने अब तक जो चर्चा की है, उससे इस सवाल का एक सिलसिलेवार जवाब मिल सकता है। मोटे तौर पर कहें, तो संज्ञानात्मक, नैतिक, ऐतिहासिक और साधन-रूपी पक्ष पर पार पाने की ज़रूरत है। मेरे कहने का मतलब यह है कि आप किन घटकों से पार पाना चाहेंगे यह उन पहलुओं पर निर्भर करेगा जिन पर आप विचार कर रहे हैं। फिर आपको तय करना होगा कि इनमें से किन्हें सीधे हस्तक्षेप के लिए चुनेंगे।

क्या पार पाने की प्रक्रिया का लक्ष्य खुला रहेगा या किसी मुकाम पर इसका कोई अंत होगा? इसका जवाब भी कुछ हद तक दिया जा चुका है। विचारधारा के कुछ पहलू हैं जिनकी जगह उनके किसी भावी संस्करण को स्थापित नहीं करना होगा। ये बंद गलियां होंगी जहां किसी विचारधारा का स्थान कोई भावी विचारधारा नहीं लेगी। उदाहरण के लिए - आप सहमत हों या न हों मगर मैं एक किस्म का मार्क्सवादी हूं - मैं कहूंगा कि संभवतः एक विचारधारा के रूप में वस्तु-प्रेम (commodity fetishism) समाप्त हो जाएगा। यदि कभी पूंजीवाद की विदाई हुई तो उसके साथ वस्तु-प्रेम भी जाएगा और इसकी जगह किसी और विचारधारा को लाने की ज़रूरत नहीं होगी। मगर विचारधारा के कुछ ऐसे पहलू भी हैं जिनकी जगह अन्य किस्म की, उम्मीद करें कि बेहतर, विचारधाराएं आ जाएंगी और यह प्रक्रिया खुली रहेगी।

ठीक है, कुछ टिप्पणियां विज्ञान के बारे में। क्या पार पाने के लिए विज्ञान उपयुक्त है, क्या यह एक उपयुक्त एजेंट है? जैसा कि मैंने लिखा है, रोशनख्याली के ज़माने में तो इस सवाल का शायद कोई अर्थ ही नहीं होता। मगर आज विज्ञान को लेकर तमाम सवालों के चलते लोगों के मन में संदेह है कि क्या विज्ञान विचारधारा से पार पाने का औज़ार हो सकता है। एक बार जब आप आश्वस्त हो जाएं कि विचारधारा या उसके कुछ हिस्सों से पार पाना ज़रूरी है, तो आपको पूछना होगा कि क्या विज्ञान ही वह चीज़ है जो इस काम को करेगी। और विज्ञान को लेकर सवाल और संदेह हैं, अधिकांश सवाल और संदेह सांस्कृतिक-सापेक्षतावादी या सामाजिक-निर्माणवादी किस्म के हैं, यानी मूलतः उत्तर-आधुनिकतावादी हैं। किसी न किसी अर्थ में इन सबमें यथार्थवाद-विरोधी रंगत है। सांस्कृतिक-सापेक्षतावादियों या सामाजिक-निर्माणवादियों वगैरह ने क्वाइन और कुन जैसे लोगों के काम (इनका काम लगन से किया गया है और मैं इनके काम पर सवाल नहीं उठा रहा हूं) का उपयोग, या मेरे ख्याल में दुरुपयोग कुछ और ही साबित करने के लिए किया है। मगर वे लोग भी

इन्कार नहीं कर सकते कि उनका काम एक ऐसे उद्यम में एक प्रमुख अवधारणा रहा है, जो मूलतः विज्ञान-विरोधी और यथार्थवाद-विरोधी है।

यथार्थवाद-विरोधी रंगत सारे सांस्कृतिक-सापेक्षतावादी या सामाजिक-निर्माणवादी सिद्धांतों का सामान्य लक्षण है। इन्सानों व उनकी संज्ञान क्षमता सामाजिक रूप से निर्मित होती है, इस बात पर अतिशय ज़ोर तथा सारे अवलोकनों व विश्लेषणों में स्वार्थों का हाथ होने की अतिशय चिंता के चलते यह भूल जाना आसान है कि हम ही संपूर्ण सृष्टि नहीं हैं। हमसे बाहर भी एक दुनिया है जो हमारे विचारों की रचना नहीं है और हर बार जब हम अवलोकन करते हैं तो यह बेकाबू ढंग से अस्त-व्यस्त नहीं हो जाती। विज्ञान का जन्म यथार्थ के ऐसे पहलुओं से निपटते हुए ही हुआ है। लिहाज़ा इसकी विधियों में उपयुक्त संशोधन करके मानव विश्व के सामाजिक व मनोवैज्ञानिक आयामों जैसे ज़्यादा पेचीदा व नाज़ुक आयामों या भौतिक विश्व के क्वांटम पक्ष से निपटना संभव है। यह तो माना जा सकता है कि विश्व को देखने की हमारी दृष्टि पर इस बात का असर पड़ता है कि हम इन्सान हैं या इस या उस वर्ग या जाति या लिंग के सदस्य हैं। मगर हमारे पास एक ऐसी क्षमता भी है जिसकी मदद से हम अंधे व्यक्तियों द्वारा एकत्रित खंडित जानकारी के आधार पर हाथी का एक लगभग चित्रण कर सकते हैं। विज्ञान की उत्तर-आधुनिक आलोचना में इस बात को प्रायः भुला दिया जाता है।

अब मैं आखरी खंड पर आता हूं। इसमें कुछ बिंदुवार बातें हैं:

- पार पाने की बुनियादी प्रकृति का निर्धारण विचारधारा और विज्ञान की प्रकृति से होता है। और इसकी वास्तविक आकृति उन सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित होगी जिनके तहत यह तथाकथित पार पाना किया जा रहा है। विचारधारा और विज्ञान दोनों का इतिहास है। ये समय के साथ बदले हैं और आगे भी बदलते रहेंगे। लिहाज़ा पार पाने की प्रक्रिया अनिवार्य रूप से निरंतर व खुले लक्ष्य वाली होगी।
- विचारधारा व विज्ञान दोनों बदलेंगे और एक परिवर्तित विज्ञान एक परिवर्तित विचारधारा का सामना करेगा और फिर परिवर्तन का अगला चक्र शुरू होगा। मूल उद्यमों में व्यापक समायोजन के बावजूद और रोशनख्याली के तर्क के दावों के बावजूद विज्ञान और विचारधारा के बीच अलगाव आज भी उतना ही स्पष्ट है। विज्ञान व सिद्धांत की प्रकृति वैश्विक है; विचारधारा और जीवन के अनुभव स्थानीय हैं (यहां वैश्विक और स्थानीय का तात्पर्य भौगोलिक नहीं है - मेरा कहने का मतलब है कि सिद्धांत को आपके प्रत्यक्ष अनुभव में तबदील नहीं किया जा सकता)। सिद्धांत सदैव विस्तीर्ण रहेंगे, हालांकि ये प्रेक्षकों, जाननेवालों या सिद्धांतकारों पर निर्भर रहेंगे। मगर इन्हें सिद्धांतकार के निजी अनुभव में तबदील नहीं किया जा सकता। इसीलिए इसका सम्बंध इस बात से है कि क्यों वैज्ञानिकों के अवैज्ञानिक विश्वास होते हैं - क्योंकि ये दो अलग-अलग दायरे हैं। जो विज्ञान वे करते हैं, उसे हर मामले में उनके निजी अनुभवों में नहीं बदला जा सकता, और जिन वैज्ञानिकों के विश्वास विज्ञान-सम्मत होते हैं, ज़रूरी नहीं कि ऐसा इसलिए हो कि वे वैज्ञानिक हैं। कई अन्य कारकों का असर इस बात पर पड़ता है कि निजी अथवा सामाजिक जीवन में उनके विश्वास विज्ञान-सम्मत होंगे। जो विज्ञान वे करते हैं, उससे अनिवार्य रूप से इस बात की पूरी व्याख्या नहीं होती।
- इसलिए यदि विज्ञान परिवर्तन के लिए व्यक्तियों की चेतना को लक्ष्य बनाएगा, तो वह विचारधारा से पार पाने में कारगर नहीं हो सकता। यह एक महत्वपूर्ण बिंदु है, यह यहां बैठे श्रोताओं के लिए मेरा मौलिक बिंदु नहीं है, क्योंकि शिक्षा की तकनीक या दर्शन के लिहाज़ से मैं तो शिक्षा के क्षेत्र में एक बाहरी व्यक्ति

हूं। यह कोई निजी-शैक्षिक चीज़ नहीं है जिसके ज़रिए आप समाज की वैज्ञानिक मानसिकता को बदल सकते हैं। चाहे आप पूरे समाज को वैज्ञानिकों की एक जमात बना दें, मगर फिर भी हो सकता है कि वे अवैज्ञानिक व संदिग्ध विश्वासों व प्रथाओं को पालते रहें। लिहाज़ा पार पाने की प्रक्रिया निजी-शैक्षिक की अपेक्षा ढांचागत ज़्यादा होगी। किसी वैज्ञानिक के संदिग्ध विश्वास व तौर-तरीके सामाजिक, सांस्कृतिक, तंत्रगत ढांचों में पुनरुत्पादित होते हैं व फलते-फूलते हैं। विचारधारा से पार पाने में विज्ञान की भूमिका मुख्यतः इस बात से तय होती है कि समाज के मुक्तिदायक परिवर्तन के समग्र उद्यम में विज्ञान किस हद तक व किस तरह का साथी व सहभागी बन सकता है। यहां यह गौरतलब है कि इस तरह का सहभागी बनने का मतलब यह नहीं है कि स्वयं विज्ञान को एक विचारधारा में बदल दिया जाए, चाहे वह कितनी ही प्रगतिशील किस्म की विचारधारा क्यों न हो। सामाजिक व राजनैतिक आंदोलन अक्सर अपेक्षा करते हैं कि विज्ञान विचारधारा का रूप ले ले। वे सबसे ज़्यादा महत्व पक्षधरता को देते हैं, और अक्सर विज्ञान का आकलन भी इसी एक आधार पर करते हैं। अंततः यह मूल उद्देश्य को विफल कर देता है। आप उम्मीद कर सकते हैं कि कोई वैज्ञानिक प्रगतिशील विचारधारा की ओर मुड़े, मगर आप यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि विज्ञान की मूल प्रकृति किसी विचारधारा की ओर मुड़ जाए। अर्थात मैं विज्ञान और विचारधारा के बीच स्पष्ट भेद कर रहा हूं।

- पार पाने की प्रक्रिया की बारीकियां भी इस बात पर निर्भर करेंगी कि आप विचारधारा के किन आयामों को लक्ष्य कर रहे हैं। तंत्रगत आयाम में, और सांस्कृतिक आयाम के कई पहलुओं में विज्ञान सीधे हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इन आयामों व पहलुओं पर विज्ञान तभी असर डाल सकता है जब उसे राजनैतिक शक्तियों व सामाजिक आंदोलनों के साथ जोड़ा जाए। यह ज़रूरी है कि प्रगतिशील मुक्तिदायक विज्ञान आंदोलन इस मामले में एक स्पष्ट समझ बनाएं। ऐसे कुछ पहलू हैं, खास तौर से सांस्कृतिक दायरे के कुछ पहलू है, जहां विज्ञान सीधे मैदान संभाल सकता है और विचारधारा को ललकार सकता है। विज्ञान आंदोलनों द्वारा ऐसे हस्तक्षेप उन्हें एक स्वतंत्र सामाजिक पहचान व चरित्र देते हैं, जिनके आधार पर वे मुक्तिदायक आंदोलनों व शक्तियों के साथियों को प्रभावित कर सकते हैं, जो खुद विज्ञान आंदोलन नहीं हैं।
- समाज-विशेष की प्रकृति भी पार पाने की प्रक्रिया पर असर डालती है। भारत जैसे समाजों में, जहां आधुनिक व पूंजीवादी राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था के अस्तित्व के बावजूद, सामाजिक-सांस्कृतिक दायरों में आधुनिक-पूर्व विचारधाराओं का राज है, वहां आधुनिकता एक वांछनीय भविष्य है। आधुनिकता को पूंजीवाद के अपराधों के लिए दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए और न ही इसे निहित रूप से उपनिवेशीकरण से जोड़कर देखा जाना चाहिए, जैसा कि कई उपनिवेश-उपरांत सिद्धांतकार व नेता करते हैं। एक गैर-पूंजीवादी, गैर-साम्राज्यवादी और मुक्तिदायी आधुनिकता संभव है। इसी प्रकार से विज्ञान निहित रूप से पाश्चात्य नहीं है। देखा जाए, तो पश्चिम ने विज्ञान को नहीं बनाया, विज्ञान ने पश्चिम को बनाया है। यह पूर्व का भी पुनर्निर्माण कर सकता है, यह प्रक्रिया तीसरी दुनिया के कई देशों में पूरे ज़ोर शोर से चल भी रही है। मेरे ख्याल में इस तरह की समझ भारत के विज्ञान आंदोलनों के लिए निर्णायक महत्व रखती है।
- मुझे यह देखकर हैरानी होती है कि विश्लेषणात्मक-तर्कसंगत आंदोलन (जिसके साथ हम लॉके, ह्यूम, स्मिथ, कान्ट और मिल वगैरह के नाम जोड़ सकते हैं) तो उदार पूंजीवाद से सम्बंधित रहा है जबकि

ऑर्गेनिसिस्ट-होलिस्ट दर्शन (शोपेनहायर, नित्शे, हाइडेगर वगैरह का) प्रायः फासिस्म के साथ जुड़ा रहा है। इसलिए मेरे लिए हैरानी की बात यह है कि आजकल विश्लेषणात्मक विधियों की प्रायः आलोचना की जाती है और ऑर्गेनिसिस्ट विधियां काफी फैशन में हैं। मगर ज़रा इतिहास को देखिए कि इन होलिस्ट विधियों का राजनैतिक रुख क्या रहा है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि होलिस्ट विधियां ज़रूरी नहीं हैं, मगर इससे पहले कि विज्ञान इतना परिपक्व हो जाए कि वह होलिस्ट विधियों से निपट सके, आपको विश्लेषणात्मक विधियों पर महारत हासिल करनी होगी। यानी यह विज्ञान के विकास की एक अवस्था है।

विज्ञान शिक्षा पद्धति में संस्कृति की क्या भूमिका हो, इसे लेकर कुछ पेंचदार मुद्दे हैं। मैं ऐसे मुद्दों की चर्चा करने के लिए योग्य नहीं हूं। सहज बुद्धि के आधार पर मुझे लगता है कि विज्ञान शिक्षण पद्धति का निर्धारण संस्कृति के भरोसे छोड़ना शायद आसान रास्ता होगा मगर अंततः वह आपको गलत जगह ले जाएगा। विज्ञान की शिक्षा पद्धति का फैसला सबसे पहले व प्राथमिक रूप से स्वयं विज्ञान की आंतरिक संरचना के आधार पर होना चाहिए। सांस्कृतिक पहलुओं की भूमिका द्वितीयक होनी चाहिए। हो सकता है कि यह एक विवादास्पद मुद्दा हो लेकिन इस संदर्भ में मेरा यही मत है। एक उदाहरण है जो अधकचरा है और पूरी तरह बात को स्पष्ट तो नहीं करता मगर यदि भगवा शिक्षा पद्धति के तहत बच्चों को गिनती सिखाने के लिए पृष्ठ पर ओम और स्वस्तिक की संख्या गिनने को कहा जाए, तो मैं कहूंगा कि यहां विचारधारा विज्ञान पर हावी हो रही है। यदि ओम और स्वस्तिकों की जगह लाल झंडे और लाल सितारे हों, तो भी मैं यही कहूंगा। इसलिए नहीं कि मैं इन दोनों समूहों को बराबर मानता हूं। दूसरे समूह के लिए मेरे मन में बहुत आदर है। मेरा कहना यह है कि विचारधारा प्रगतिशील हो या प्रतिक्रियावादी, विज्ञान शिक्षा के साथ नहीं मिलाई जानी चाहिए। ऐसे अन्य क्षेत्र हैं जहां आपको अपनी विचारधारा चुनना चाहिए। और वहां मैं न सिर्फ चुनूंगा बल्कि प्रचार करूंगा कि यदि चुनना हो, तो अन्य लोगों को भी स्वस्तिक की बजाय लाल झंडे चुनना चाहिए।

शुक्रिया।

संवादक की टिप्पणी

एन. पंचापकेसन : बहुत-बहुत धन्यवाद डॉ. सिन्हा। अगली वक्ता प्रेरणा राणे हैं।

प्रेरणा राणे

दोस्तो, मैं काफी दबाव में हूं। जब साधना और हार्डी ने आग्रह किया था कि मुझे आना ही चाहिए और कुछ कहना ही चाहिए, तो मैं बहुत अनिच्छुक थी और जब मैं कल यहां के पूरे विचार-विमर्श में बैठी तो मुझे लगा कि कहीं मैंने आमंत्रण को स्वीकार करके गलती तो नहीं कर दी। ऐसा लगने का कारण सीधा-सा है कि मैं कोई विद्वान नहीं हूं। और जो कुछ मैं कहने जा रही हूं वह यकीनन कोई ऐसी बात नहीं है जो इतिहासकारों की बातों वगैरह पर आधारित हो मगर शायद मैं आपके साथ वह सब साझा कर सकती हूं जो मैंने जन विज्ञान आंदोलन के साथ और उसके आगे की यात्रा में सीखा है। खास तौर से इस मायने में कि विज्ञान विचारधारा के बरक्स क्या कर सकता है। निश्चित रूप से कुछ हद तक यह एक निजी यात्रा है और इसलिए मैं यह दावा नहीं करती कि इसे सामान्यीकृत किया जा सकता है या सिद्धांत का रूप दिया जा सकता है मगर मेरा

अनुभव इस अर्थ में कुछ प्रकाश डाल सकता है कि कैसे मेरे जैसी एक व्यक्ति, जिसने विज्ञान का इतिहास नहीं पढ़ा, विज्ञान का दर्शन नहीं पढ़ा, मगर जिसे सिर्फ विज्ञान से प्यार है और लगता है कि विज्ञान की विधि जीवन में आश्चर्यजनक काम कर सकती है, ऐसी एक व्यक्ति एक आंदोलन में यह सोचकर शरीक होती है कि उसके हाथ में जादुई छड़ी है और यह जादुई छड़ी समाज की सारी समस्याओं को हल कर देगी।

जिस चीज़ ने मुझे आगे बढ़ते रहने को प्रेरित किया वह थी कि जिस ढंग से दुनिया चल रही थी, उससे मैं खुश नहीं थी। मुझे प्रेम की दरकार थी, शांति की दरकार थी, मुझे सामंजस्य की दरकार थी, मुझे नफरत नहीं चाहिए थी। मैं बराबरी चाहती थी और मुझे लगा था कि जिस ढंग से मैंने विज्ञान के माध्यम से सीखा था उसी में इसका समाधान है। इसी के साथ हमने जन विज्ञान आंदोलन की यात्रा शुरू की थी और हम सब इसमें काम करने लगे, यह सोचकर कि जब विज्ञान को लोगों तक ले जाएंगे तो आम लोग विज्ञान और उसकी पद्धति के खुलेपन, सवाल पूछने की प्रवृत्ति और अन्य सारे गुणों के चलते बदल जाएंगे।

जन विज्ञान आंदोलन में मैंने मुख्य रूप से स्वास्थ्य और अंधविश्वासों के क्षेत्र में काम किया। और सचमुच यह बहुत ही ज्ञानवर्धक यात्रा थी क्योंकि मैं आम लोगों के साथ काम कर रही थी, आदिवासी क्षेत्रों के, ग्रामीण क्षेत्रों के, शहरी झुग्गी बस्तियों के लोगों के साथ और इसके अलावा अभिजात्य तबके व वैज्ञानिकों के साथ भी। हर तरह के लोगों के साथ मगर मुख्य रूप से आम लोगों के साथ, जिनके पास ढेरों पुरानी आस्था प्रणालियां थीं जो उन्हें अपने धर्म, अपनी संस्कृति से विरासत में मिली थीं और शायद ये उनके दैनिक जीवन पर और उनके फैसलों पर असर डालती थीं, इस बात पर असर डालती थीं कि वे अपनी सेहत व अन्य चीज़ों को किस ढंग से देखते हैं। हम उनके विश्वासों को हटाकर एक नई विश्वास प्रणाली स्थापित करना चाहते थे। पूरे संघर्ष में यह हमारा लक्ष्य था। जब हम ये सारी चीज़ें कर रहे थे तब हमें यह चिंता रहती थी कि बहुत तेज़ी से पुरानी विश्वास प्रणाली को हटाकर नई विश्वास प्रणाली को स्थापित करने का क्या असर होगा। मगर हम परिवर्तन की प्रक्रिया को लेकर बहुत सचेत नहीं थे। जैसे मैंने कल ही पूछा था कि कोई व्यक्ति अपने जीवन की वास्तविक समस्याओं को हल करने के लिए भगत या ओझा के पास जाता था, या कुछ अनुष्ठान वगैरह करता था और आगे चलकर डॉक्टरों और वैज्ञानिकों के पास जाने लगता है, तो उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया क्या होगी। यानी एक प्रतिस्थापन तो हुआ। और प्रतिस्थापन यह हुआ कि पहले वे किसी व्यक्ति पर भरोसा करते थे जो किसी धार्मिक या ऐसी ही किसी संस्था का होता था और अब वे हमारे ऊपर भरोसा करने लगे जो उन्हें बताते थे कि विज्ञान अच्छा है और इसलिए तुम्हें विज्ञान के पास जाना चाहिए।

तो पहला सवाल परिवर्तन की प्रक्रिया को लेकर था। दूसरी चीज़ मैंने यह देखी कि वैज्ञानिक ज्ञान को पकड़ पाने में भारी कठिनाई होती थी। विज्ञान इतना आगे बढ़ चुका है। हमने शुरुआत की थी एक पूर्ण सूर्य ग्रहण के दिन और इसे लेकर न सिर्फ आम लोगों में बल्कि मीडिया और सरकार के बीच भी इतने अंधविश्वास थे (मैं 1980 के पूर्ण सूर्य ग्रहण की बात कर रही हूं) और हम आम लोगों के साथ रहकर उन अंधविश्वासों को दूर करना चाहते थे। हम चाहते थे कि वे सूर्य ग्रहण को देखें। उस समय हमने कई सारी प्रदर्शनियां कीं, नुक्कड़ सभाएं कीं और यह मुद्दा बार-बार मेरे दिमाग में उठता रहा कि लोग पूछने लगे हैं कि वे क्यों विश्वास करें कि सूर्य ग्रहण इस तरह होता है, कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है, क्योंकि उनके पास कोई तरीका न था कि वे जो कुछ सीख रहे हैं, उसकी जांच कर सकें, उसे सत्यापित कर सकें। मगर वे हमारी बातों पर यकीन कर रहे थे। सकारात्मक बात थी कि लोग सचमुच निकलकर आए। एक गर्भवती महिला थी जो बाहर आई और उसने भोजन भी किया और वहीं नेहरु तारामंडल के निदेशक भी थे जिन्होंने सूर्य ग्रहण

की अवधि में कुछ भी खाने से इन्कार कर दिया। तो ऐसे वैज्ञानिक थे, जिन्हें विज्ञान और खगोल शास्त्र की शिक्षा मिली है, मगर उन्होंने अपनी पारंपरिक विश्वास प्रणाली को तोड़ने से इन्कार कर दिया और वहीं ऐसे लोग भी थे जो नए ज्ञान को अपनाने को तैयार थे और अपनी पुरानी विश्वास प्रणाली को छोड़ने को तैयार थे। यह एक पहलू मैंने देखा।

बहरहाल, ईश्वर और आध्यात्मिकता इन लोगों के जीवन में एक बड़ी भूमिका अदा करते हैं और अक्सर वे मेरे सामने ऐसे मुद्दे रखते थे। वे ईश्वर के प्रति आस्था के बारे में मेरी राय जानना चाहते थे, कि क्या मुझे ईश्वर में विश्वास है और आध्यात्मिकता के बारे में मेरा क्या नज़रिया है। मुझे उस समय वाकई पता नहीं था कि आध्यात्मिकता का अर्थ क्या होता है। मगर निश्चित रूप से मैं नास्तिक होने और आस्तिक होने की अवस्थाओं से गुज़री हूं और अलग-अलग समय पर अपने जीवन की अंदरुनी ज़रूरतों के अनुसार मैं सदा अपनी स्थिति बदलती रही हूं।

मैंने पाया कि लोग जीवन में तीन तरह की समस्याओं का सामना करते हैं। मैं उन्हें भौतिक, अधिभौतिक और अधिदैविक कहती हूं। भौतिक वे चीज़ें हैं जिनका सम्बंध भौतिक विश्व से है और मैंने देखा कि यहां विज्ञान व उसकी पद्धतियों को संभालना लोगों के लिए सबसे आसान है। अधिभौतिक कुछ ऐसी चीज़ है जिस पर मेरा नियंत्रण नहीं है, कोई और मेरे साथ कुछ करता है और मुझे हकीकत का सामना करना पड़ता है और उस हकीकत से निपटना पड़ता है। और अधिदैविक वे चीज़ें हैं जिन पर किसी का कोई नियंत्रण नहीं है - सूनामी आता है और मैं अपना कोई प्रिय व्यक्ति खो देती हूं, इसे कैसे संभालूं? लोगों के पास इससे निपटने की रणनीति के रूप में भगवान था क्योंकि इससे उन्हें जीने की ताकत मिलती है। वे अपना सारा बोझ ईश्वर के कंधों पर डालकर कुछ राहत हासिल करते थे। फिलहाल विज्ञान ने निपटने की कोई अन्य विधि पैदा नहीं की है, तो आप इन सारी हकीकतों से कैसे जूझेंगे?

जब मैं विज्ञान की विधियों के साथ प्रयोग कर रही थी, तब हम विभिन्न समूहों के साथ विचार-विमर्श करते थे। जैसे रेशनलिस्ट समूहों के लोगों के साथ। हमने प्रेमानंद जी को महाराष्ट्र बुलाया। अब सामान्य रेशनलिस्ट का नारा होता है: "ईश्वर नहीं, ईश्वर नहीं, ईश्वर नहीं!" और मुझे उन्हें यह समझाने के लिए कड़ी मेहनत करनी पड़ी कि वे बाकी जो कुछ करें, इस नारे को हटा दें क्योंकि हम आम लोगों के साथ काम कर रहे हैं, जिनका भगवान पर अटूट विश्वास है। यदि हम उन्हें बदलना चाहते हैं, तो हमें उनके साथ रहना होगा, हमें उन्हें साथ लेकर ही आगे बढ़ना होगा। खुशकिस्मती से प्रेमानंद "ईश्वर नहीं, ईश्वर नहीं, ईश्वर नहीं!" का नारा हटाने पर राज़ी हो गए और हम आगे बढ़ पाए। मगर इस बातचीत में महाराष्ट्र के मार्क्सवादी दार्शनिक (मैं नाम भूल रही हूं, वे महाराष्ट्र में बहुत जाने-माने हैं) मौजूद थे, जिन्हें हमने खास तौर से बुलाया था। उन्होंने महाराष्ट्र के संतों का गहराई से अध्ययन किया था और उन्होंने कहा कि आपको भी उन सब संतों का अध्ययन करना चाहिए। इसने मुझे कबीर, तुकाराम, तुकोजी महाराज, गार्गे बाबा का अध्ययन करने को प्रेरित किया और इन सब संतों ने अद्‌भुत काम किया था। वे ईश्वर को मानते थे मगर साथ ही उन्होंने उन सारे कर्मकांडों पर, सारे आडंबर पर सवाल उठाए थे जो धर्म के साथ समाज में आते हैं। ये संत आम लोगों को स्वीकार्य थे। हमने उनकी शिक्षाओं का खूब उपयोग किया और पाया कि ये विज्ञान की विधि और खोजबीन के साथ-साथ बहुत सार्थक हैं, जो सुलझाने योग्य या भौतिक समस्याओं से वास्ता रखती है।

इस मोड़ पर मेरी अपनी निजी यात्रा में संगठन में ही एक टूटन आई। हमारे बीच विचारधारा को लेकर मतभेद थे और इस बात को लेकर मतभेद थे कि हम जन विज्ञान आंदोलन को किस रूप में देखते हैं या हमें किन

कार्यक्रमों को आगे ले जाना चाहिए और हम इन मतभेदों को अपने बीच सुलझा न सके और संगठन में फूट हो गई। इससे मेरे मन में यह सवाल आया कि क्यों हम अपने अंदर ही सामंजस्य न बना सके। बाहर समाज में तो हम सीखने की बातें करते हैं मगर अपने अंदर ही हममें विविधता को लेकर इतनी असहिष्णुता है, हम एक-दूसरे को विविधता के साथ स्वीकार न कर पाए, हम अपने बीच ही सहयोग पैदा न कर पाए, हम सब जो विज्ञान की विधि में यकीन करते थे। इन सवालों ने मुझे कुछ आध्यात्मिक अध्ययन, खासकर योग और बौद्ध दर्शन की ओर धकेला। और मैं विज्ञान की एक शाखा - प्रयुक्त व्यवहार विज्ञान (applied behavioural science) - में कुछ गहराई तक गई। और मुझे विज्ञान की सीमाओं की कुछ समझ मिली। प्रयुक्त व्यवहार विज्ञान ने मुझे बताया कि जब किसी व्यक्ति को समझने की बात आती है और जब कोई व्यक्ति एक व्यवहार प्रदर्शित करता है तो उसके पीछे कई व्यक्तित्व (persona) होते हैं, जिन्हें हम नहीं देख रहे हैं। व्यवहार के पीछे भावनाएं होती हैं, ज़रूरतें होती हैं, रवैये होते हैं, आस्था प्रणालियां होती हैं, मूल्य होते हैं, आत्म-अवधारणाएं होती हैं और जो बाह्य व्यवहार हम देख रहे हैं और बदलने की कोशिश कर रहे हैं वह कई अन्य चीज़ों पर निर्भर है और हम सिर्फ एक चीज़ को, आस्था की अवधारणा को, आस्था प्रणाली को छू रहे हैं। दूसरी ओर, मैंने समूह की क्रियाविधियों को समझा, और समूह की क्रियाविधि में मैंने यह सीखा कि समूह बनते कैसे हैं, परिपाटियां कैसे बनती हैं, समूह के अंदर सत्ता और अधिकार के मुद्दे क्या हैं, ध्रुवीकरण कैसे होता है, समूहों और समुदायों में समावेश और बहिष्कार कैसे होता है, ऊंच-नीच, विश्वास बनाना, सत्ता वगैरह। तो मैं यह समझने लगी कि मानव विश्व इतना सरल नहीं है कि आप इसे मात्र विज्ञान की विधि से संबोधित कर सकें।

दूसरी ओर, मैं विनोबाजी के भी करीब आ रही थी, जिन्होंने कहा था कि मात्र विज्ञान और अध्यात्म ही भारतीय समाज को एक नई दिशा दे सकते हैं। विज्ञान से उनका आशय कुछ अलग था, अध्यात्म से उनका आशय भी कुछ अलग था। उनकी आध्यात्मिकता में सामंजस्य, प्रेम, स्वीकार्यता - बिना शर्त स्वीकार्यता - की बातें थीं। योग में ईश्वर की अवधारणा नहीं थी। यह मात्र इतना कहता है कि सचेत होकर दुनिया को उस रूप में देखो जैसी कि वह है, अंतर सिर्फ़ इतना है कि औज़ार पूरी तरह आंतरिक है। यह स्वयं के भीतर जाकर आत्म-अन्वेषण करना, कुछ चीज़ों को अनुभव करना है। यही बात बौद्ध दर्शन में भी है। बौद्ध दर्शन में हर समय कष्टों की बात होती है, मगर कष्टों को समझकर और कष्टों को मान्यता देकर। खुशहाली आत्म-अन्वेषण में है। भौतिक विज्ञान इस तरह के आत्म-अन्वेषण और अनुभव करने के तरीकों से काम नहीं करते। मैं समाज की एक वास्तविक परिघटना का उदाहरण दूंगी। स्वास्थ्य के क्षेत्र में हम ऐसी बीमारियों का सामना कर रहे हैं जो अकेलेपन, तनाव से पैदा होती हैं, जैसे हृदय रोग, मधुमेह, प्रतिरक्षा तंत्र से जुड़ी बीमारियां और इन समस्याओं को हल करने में आधुनिक विज्ञान की सीमाएं दिखने लगी हैं। दूसरी ओर, डेल ओर्निश आगे आकर कह रहे हैं कि यह देखो यह योग है, मैं इसका उपयोग सेहत बढ़ाने के लिए कर रहा हूं और यह ऐसे ठोस परिणाम देता है जिन्हें पूरा चिकित्सा जगत स्वीकार करता है। तो वे कौन-सी विधि का उपयोग कर रहे हैं? स्वयं को खोलना - खुद अपने लिए, अन्यों के लिए, एक उच्चतर आत्म के लिए। बहुत ही सरल रणनीति है, जिसका उपयोग योग में किया जाता है और जो समाधान देती है।

पिछले एक वर्ष से मैं तीन आंदोलनों का अध्ययन कर रही हूं, जिसके चलते मेरे मन में यह जिज्ञासा पैदा हुई है कि आम लोगों के भीतर क्या चल रहा है और वे किस ओर जा रहे हैं। मैं देखती हूं कि योग का प्रचार करने का काम सिर्फ एक संगठन द्वारा नहीं किया जा रहा है, योग न सिर्फ भारत में बल्कि दुनिया भर में फैल रहा है। क्यों हो रहा है यह? क्यों लोग योग की ओर मुड़ रहे हैं? इससे उन्हें क्या मिल रहा है? मैं आजकल स्वाध्याय आंदोलन का अध्ययन कर रही हूं, जिसका नेतृत्व पांडुरंग शास्त्री आठवले ने किया था।

इसमें व्यक्ति के अंदर के दैवत्व की बात की जाती थी और व्यक्तियों को दैवत्व के माध्यम से एक-दूसरे से जोड़ा जाता था और इसने लोगों के जीवन में अद्‌भुत परिवर्तन किए। साथ ही, मैं महाराष्ट्र के एक और अपेक्षाकृत छोटे आंदोलन का अध्ययन कर रही हूं, जिसे प्रयोग परिवार कहते हैं। इसका नेतृत्व दाभोलकर ने किया है। प्रयोग परिवार जीवन के वास्तविक मुद्दों की खोजबीन व सीखने की भावना के साथ प्रयोग करने की बात करता है। मगर यह पूरी तरह वैज्ञानिक विधि तक सीमित था और इसका प्रसार बहुत थोड़े-से लोगों में रहा और यह पूरी तरह अपने प्रवर्तक पर निर्भर था।

एक और रुझान है जो मुझे अलग ढंग से सोचने को मजबूर करता है। यह एक ताज़ा बात है जिसकी शुरुआत रोज़ेनबर्ग नामक व्यवहार वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक ने की है। इसे अहिंसक संप्रेषण (नॉन-वॉयलेंट कम्यूनिकेशन या एन.वी.सी.) कहते हैं। इस तकनीक का उपयोग लोग खूब कर रहे हैं। मैंने भी आत्म-अन्वेषण और परिवर्तन के लिए इसका उपयोग किया है और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भारत में जागोरी नामक एक महिला समूह भी इसका उपयोग महिलाओं में जागरूकता पैदा करने और उनकी शक्ति विकसित करने के लिए कर रहा है ताकि वे अपने खिलाफ हो रही हिंसा का मुकाबला कर सकें। जनवरी के पहले सप्ताह में महाराष्ट्र में नागपूर में 3000 दलितों का शिविर (रिट्रीट) होता है जिसमें एन.वी.सी., बौद्ध दर्शन और अंबेडकर को जोड़ा जाता है और इस शिविर की थीम होती है - परिवर्तन के लिए संप्रेषण। मैं इन संभावनाओं को टटोलना चाहूंगी। हम लोग उन चीज़ों से नाखुश हैं, जो रूढ़िवादी विचारधाराओं में हो रही हैं, मगर शायद विज्ञान सारी चीज़ों को संभालने के लिए पर्याप्त नहीं है और हमें इस व्यापक चुनौती का सामना करने के लिए कुछ चीज़ें आध्यात्मिकता से प्राप्त करनी होंगी, शायद प्रयुक्त व्यवहार विज्ञान से, और उन्हें जोड़ना होगा।

स्वाति

अध्यक्ष और प्रिय मित्रो, मेरी बहुत इच्छा थी कि हिंदी में बोलूं मगर फिर कल मेरी मुलाकात एक मित्र जयश्री से हुई जो हिंदी नहीं समझती। तो मुझे समझ में आया कि यहां कई लोग हिंदी नहीं समझते होंगे, इसलिए मैं अंग्रेज़ी में बोलूंगी। मैं भौतिक शास्त्र पढ़ाती हूं और थोड़ा अनुसंधान करती हूं। मैं कंप्यूटेशनल जीव विज्ञान में थोड़ी मटरगश्ती कर रही हूं और उम्मीद करती हूं कि जल्दी ही पक्की कंप्यूटेशनल जीव वैज्ञानिक बन जाऊंगी, मगर रवि सिन्हा ने जिन उत्तर-आधुनिक लोगों का ज़िक्र किया था, उनकी तरह मुझे लगता है कि विज्ञान ज्ञान के लगभग उतने ही वैध कई क्षेत्रों में से एक है। तो मैं सामान्य अर्थों में विज्ञान-व्यक्ति नहीं हूं, जिससे मुलाकात की उम्मीद आप करते हैं। यदि आप अपने साथ यह विश्वास लेकर चलते हैं कि विज्ञान कुछ अलग है, पवित्र है और ज्ञान का ऐसा क्षेत्र है, जहां सारे सवालों के जवाब हैं, तो आपकी शुरुआत बहुत ही गलत है। मुझे ऐसा इसलिए लगता है क्योंकि विज्ञान भी गलतियां करता है। उदाहरण के लिए रवि ने कहा था कि विज्ञान सदा स्वयं को गलत साबित करने का प्रयास करता रहता है। मुझे नहीं लगता कि हमारे पास यहां पर्याप्त समय है कि हम विज्ञान के इतिहास पर चर्चा कर सकें मगर यह ज़िक्र करना चाहूंगी कि क्लासिकल भौतिक शास्त्री सापेक्षता के विशिष्ट सिद्धांत और सापेक्षता के सामान्य सिद्धांत को गलत साबित करने के लिए एक ऐसा सिद्धांत देने की कोशिश कर रहे हैं, जिससे क्लासिकल भौतिकी जीवित रहे। तो ऐसे दौर बार-बार आए हैं, और दो रुझान नज़र आते हैं - उनमें से एक ज़रूर यह है कि चीज़ों को गलत साबित करने की कोशिश की जाए और इस तरह से नए सिद्धांत खोजे जाएं। मगर यह रुझान भी मौजूद रहा है कि किसी सिद्धांत को वैध ठहराया जाए। इस प्रकार से इस संभावना के प्रति खुलापन नहीं रखा जाता कि हो

सकता है कि कोई बहुत ही अनजाना, नया और क्रांतिकारी सिद्धांत क्षितिज पर उठ रहा हो। यह रुझान भी हमेशा रहा है। तो मेरा इस बात से मतभेद है।

दूसरी बात, हो सकता है कि कभी किसी ज़माने में विज्ञान महज ज्ञान का एक क्षेत्र रहा होगा और आज भी हम उसे उसी रूप में परिभाषित करते हैं। न्यूटन द्वारा दी गई एक उपमा को लेते हैं। हम किसी समस्या का अध्ययन करना चाहते हैं और समस्याएं तो कई सारी हैं। समुद्र तट पर ढेर सारे कंकड़ और रेत के कण हैं और आप एक कंकड़ उठा लेते हैं, वह कंकड़ जिसका आप अध्ययन करना चाहते हैं। फिर आपको खोजबीन का औज़ार चाहिए और खोजबीन के औज़ार, टेक्नॉलॉजी व विज्ञान में प्रगति के चलते, बहुत परिष्कृत और पेचीदा हो गए हैं। तो आपको फंडिंग की ज़रूरत होती है। जैसे ही आपको फंडिंग की ज़रूरत होती है, तो जो भी अनुसंधान आप करते हैं वह इस बात पर निर्भर करता है कि आपको किस तरह के फंड मिलते हैं; चाहे वह तब की बात हो जब किमियागरी (अल्केमी) रसायन शास्त्र में प्रगति को दिशा देती थी या आज का समय हो। तो विज्ञान की दिशा, आपकी निजी वैज्ञानिक खोज की दिशा इस बात पर निर्भर करेगी कि आपको फंड कहां से मिल रहे हैं और इस बात पर भी निर्भर करेगी कि उस समय आप मानसिक रूप से किस चीज़ से निपटने के लिए तैयार हैं। तो जो भी सत्ता में होगा वह तय करेगा कि किस तरह का फंड उपलब्ध होगा और किन समस्याओं के लिए फंड दिया जाएगा और किन चीज़ों के लिए नहीं दिया जाएगा। तो विज्ञान शेष समाज से और समाज की सत्ता की मानसिकता से और उसके मूल्यों से अलग-थलग नहीं रह सकता। मेरे ख्याल में इसी से तय होगा कि (विज्ञान में) क्या होता है। लिहाज़ा आपको ऐसे काम को लिए फौरन पैसा मिल जाएगा जिससे ऐसे तकनीकी परिणाम प्राप्त होंगे, जिनका उपयोग हथियारों में किया जा सके। मुझे भी ऐसे काम के लिए पैसा मिला है। मैं सिर्फ एक उदाहरण दूंगी कि जब मैं विदेश में पीएच.डी. कर रही थी और इसका पैसा यू.एस. फौज के एक प्रोजेक्ट से आता था। प्रोजेक्ट था - युरेनियम आयनों में अनुनादी आवेश स्थानांतरण की सैद्धांतिक गणना (theoretical calculation of resonant charge transfer of uranium ions)। यह ऐसा लगता है कि बहुत ही विशिष्ट ज्ञान के सृजन का काम है मगर इसका अर्थ यह था कि आपको युरेनियम समृद्धिकरण की ज़रूरत थी और आप यह देखना चाहते थे कि क्या यह काम व्यावहारिक है। आप चाहते थे कि कोई इसकी सैद्धांतिक गणना कर दे। मुझे इसके तकनीकी या राजनैतिक निहितार्थ समझ में नहीं आए थे मगर मैं यह काम नहीं करना चाहती थी क्योंकि मेरी थीसिस पूरी हो गई थी और मैं घर लौटना चाहती थी। मगर मेरे मार्गदर्शक ने मुझसे आग्रह किया कि बस यह एक काम और कर दूं; और जब फंडिंग आया तो मैं इस काम के राजनैतिक अर्थ पर विचार करने लगी। जब मैं फिर से अपना पोस्ट-डॉक शोध करने गई थी तब भी मेरा काम स्टार वॉर प्रोजेक्ट से सम्बंधित था। ऐसा नहीं है कि यह सिर्फ मेरे साथ हुआ है, यह लगातार होता रहता है और यह सिर्फ यू.एस. में नहीं होता, जो अपनी दादागिरी बनाए रखना चाहता है, ऐसा भारत या फ्रांस या जर्मनी या हर उस जगह पर होता है जहां वे टेक्नॉलॉजी और ज्ञान के बाज़ार में या अर्थ व्यवस्था में अपना दबदबा बनाए रखना चाहते हैं। भारत इस होड़ में शामिल होना चाहता है, और वे इसे रोकना चाहते हैं। तो मुझे लगता है कि विज्ञान शेष समाज से अलग-थलग नहीं रह सकता। और मैं प्रेरणा से सहमत हूं कि विचारधारा से पार पाने के लिए विज्ञान के पास जवाब नहीं हो सकते।

कभी-कभी यह एक किस्म की दीवानगी बन जाती है। रवि सिन्हा ने वस्तुओं के प्रति दीवानगी की बात की, मगर दीवानगी सिर्फ वस्तुओं के प्रति नहीं होती - वह तो होती ही है, मगर एक अलग किस्म की दीवानगी भी होती है। यह उन लोगों में पैदा हो जाती है जिन्हें लगता है कि यदि हम लोगों को सारे राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विश्वासों से काट दें और उन्हें मात्र विज्ञान व खोजबीन की वैज्ञानिक विधि या वैज्ञानिक तौर-

तरीकों पर ध्यान देने को कहें, तो हम पूरे समाज को गलत विचारधारा से मुक्त कर देंगे। स्वाभाविक रूप से हम सबकी अपनी-अपनी विचारधाराएं हैं, हम इन्हें अपने साथ ढोते हैं और हम लोगों को विचारधारा के ज़रिए प्रभावित करना चाहते हैं, मगर हमें लगता है कि यदि लोग थोड़े ज़्यादा वैज्ञानिक दिमाग वाले हों, तो वे 'गलत' विचारधाराओं से प्रभावित नहीं होंगे जो समाज में विघटनकारी ताकतों को बढ़ावा देती हैं। और हम अच्छी तरह जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ है और मेरे ख्याल में प्रेरणा ने अपनी निजी यात्रा के परिप्रेक्ष्य में एक बहुत ही व्यावहारिक रास्ता दिया है। मुझे ऐसा लगता है कि हमें विज्ञान शिक्षा को आगे ले जाना चाहिए, हमें लोगों के साथ संवाद को आगे ले जाना चाहिए और हमें वैज्ञानिक विधि का उपयोग करना चाहिए मगर हमें यह भी समझना होगा कि लोग सामान्यतः अपनी ज़िन्दगी से क्या अपेक्षा करते हैं और विज्ञान या विज्ञान शिक्षा कितना दे सकती है। और हमें समाज की सीमाओं पर भी ध्यान देना होगा। कल हमने तवस्विनी साहू से बहुत सुंदर व्याख्यान सुना था मगर देखिए, हम जहां से आते हैं, जिन लोगों के साथ हम काम करते हैं, या जहां हम जीते हैं, हमें ऐसे स्कूल कभी नहीं मिलेंगे जहां हम उस तरह के नावाचारी तरीकों का उपयोग कर सकें। मैंने हो.वि.शि.का. को देखा है, कई बार होशंगाबाद गई हूं, और बीस साल पहले जब भी मैंने गांव के शिक्षकों से बात की, तो मुझे हमेशा यह लगता था कि (1980 के दशक के अंतिम वर्षों में, मुझे आज की स्थिति पता नहीं, और रश्मि मुझे घूर रही है) लोग इसे लेकर हिचकते थे। शुरुआत के दिनों में तो वे इतने असमंजस में थे कि कैसे वे इस कार्यक्रम को करेंगे - मैं विज्ञान शिक्षकों की बात कर रही हूं, समाज विज्ञान के शिक्षकों की नहीं। यही हाल एन.सी.ई.आर.टी. की किताबों का भी है। मेरे पास बच्चे हैं जिन्होंने केंद्रीय विद्यालयों से सी.बी.एस.ई. बोर्ड की पढ़ाई की है और किताबें तो इतनी बढ़िया हैं। मुझे किताबों से कोई शिकायत नहीं है, पाठ्य पुस्तकें काफी अच्छी हैं, हां लेखन को आलोचना की नज़र से देखें तो कुछ संस्करणों में कुछ गलतियां ज़रूर हैं मगर कक्षा का अध्यापन इनसे बिलकुल मेल नहीं खाता। केंद्रीय विद्यालय या नवोदय विद्यालय या यहां तक कि होशंगाबाद और बनारस के प्रतिष्ठित स्कूलों के शिक्षक भी प्रयोग आधारित संवाद के तरीके से विज्ञान पढ़ाना नहीं चाहते। मैं बीस वर्षों में या कहें 15 वर्षों में, जब मेरे 2 बच्चे और उनके दोस्त स्कूल में जा रहे थे, प्रति वर्ष एकाध ही ऐसे शिक्षक से मिली होऊंगी। भौतिक शास्त्र या रसायन शास्त्र या जीव विज्ञान में पूरे साल में एकाध ऐसा नवाचारी शिक्षक रहा होगा जिसने विद्यार्थियों को सीखने के लिए प्रेरित किया होगा, शेष तो 'घर पर करके लाना' या 'क्या तुम्हारे माता-पिता इतना भी नहीं जानते कि घर पर यह प्रोजेक्ट करवा सकें' टाइप की बातें करते थे। तो आप आदर्श रूप में विज्ञान शिक्षा के रूप में क्या क्रियांवित करना चाहते हैं और वास्तव में क्या होता है, इनके बीच बहुत अंतर है। तो मुझे लगता है कि विचारधारा से पार पाने के एक तरीके के रूप में हमें मज़ेदार विज्ञान करना चाहिए, न कि 'यही सब कुछ है' के रूप में। मैं नहीं सोचती कि मैं विज्ञान में इतना भरोसा कर पाऊंगी कि विचारधारा इस पर हावी नहीं हो सकती। मेरा मतलब है कि विज्ञान की खोजबीन, विज्ञान के सिद्धांत, विज्ञान के कामकाज को विचारधारा से स्वतंत्र किया जा सकता है, ये वैश्विक हैं - मगर इन पर समाज के मूल्यों का बहुत असर होता है, मुझे यही लगता है। शुक्रिया।

चर्चा

कमल महेंद्रू : दरअसल, मेरा कुछ हद तक प्रश्न है और कुछ हद तक टिप्पणी है, रवि की बात पर नहीं, बल्कि प्रेरणा और स्वाति की बात पर। मेरे मन में सवाल यह आता है कि अभी हमने मंच से पाठ्य पुस्तकों की